कालिमा छोडेगा कभी कोयला । तथा होगा कभी काग उजला ।
राक्षस विरत होगा निर्मला । मांसाहारसे ॥ ८५ ॥

किंतु आसुरी जीवमें मात्र । शुचित्व न होता तिल-मात्र ।
जैसे न होता कभी पवित्र । पात्र मद्यका ॥ ८६ ॥

पूर्ण करना शास्त्र-विधिकी आस । या पूर्वजोंकी परंपरा विशेष ।
वैसे ही धर्माचरणकी वे भाष । जानते ही नहीं ॥ ८७ ॥

जैसे बकरीका चरना । अथवा वायुका दौड़ना ।
तथा आगका है जलाना । जो मिला सो ॥ ८८ ॥

वैसे चलते सदा स्वैर । आगे बढ़ कर असुर ।
सत्यसे रख कर वैर । बरतते वे ॥ ८९ ॥

वृश्चिक अपने डंकसे । यदि गुदगुदा सकनेसे ।
बोला जायगा असुरोंसे । शायद सत्य ॥ २९० ॥

अपान-द्वारसे जब । सुगंध ले सके तब ।
सत्य पा सकेंगे सब । असुर लोग ॥ ९१ ॥

बिन कारणके जन । स्वभावसे ही है दुर्जन ।
उनके बोल विलक्षण । कहता हूं मैं ॥ ९२ ॥

अजी ! ऊंटका होना है चांग । कहो कौनसा रहता अंग ।
वैसे हैं असुरोंका प्रसंग । कहता ओघसे ॥ ९३ ॥

मुख जैसे रहता धुंवारा । धुंवा उगलता दिन सारा ।
इस भांति रहती वाग्धारा । उनकी सदा ॥ ९४ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

कहते जग झूठा है निराधार निरीश्वर ।
काम-मुलक है सारा बना संयोगसे यह ॥ ८ ॥

जीवन भोगके लिये है और सारा झूट है—

विश्व अनादि चलता आता । ईश्वर है इसका नियंता ।
उसके आगे निर्णय होता । न्याय अन्यायका ॥ ९५ ॥

वेद जिसको अन्यायी कहता । उसे नरक भोगना पड़ता ।
उसकी दृष्टिसे जो न्यायी होता । भोगता वह स्वर्ग ॥ ९६ ॥

एसी है जो विश्व-व्यवस्था । अनादि कालसे ही पार्था ।
यह सब पूर्ण है वृथा । कहते ये लोग ॥ ९७ ॥

यज्ञ-मूढ जो यागमें फंसे । मूर्ति–लिंगमें पागल वैसे ।
फंसाये हैं योगी गेरुवेसे । समाधि-भ्रममें ॥ ९८ ॥

यहां अपने ही सामर्थ्यसे । भोगता है जो मिलता है उसे ।
इसके बिन कौन क्या कैसे । पुण्य है दूजा ॥ ९९ ॥

अनेक भोग जुटा न सकनेसे । अपनी शरीरकी दुर्बलतासे ।
त्रस्त होना बिन विषय-सुखसे । यह है पाप ॥ ३०० ॥

संपन्नोंकी जो हत्या करना । इसको यदि पाप मानना ।
संपदा सब हाथमें आना । यह नहीं क्या पुण्य ॥ १ ॥

सबलका निर्बलको खाना । इसको यदि अन्याय माना ।
क्यों न हुवा कहो निःसंतान । मत्स्य जात ॥ २ ॥

तथा दोनों कुलोंको देख कर । कौमार्यमें ही शुभ लग्नपर ।
ब्याहना उचित तो धनुर्धर । प्रजा-हेतुसे ॥ ३ ॥

तब पशु–पक्षादि जो है जाति । उनकी अपरमित संतति ।
उनको किसने है प्रतिपत्ति । किये हैं विवाह ॥ ४ ॥

चोरीसे जो धन है आया । किसको कहां विष भया ।
पर-दारासे बल किया । हुआ है कौन कोडी ॥ ५ ॥

तथा ईश्वर स्वामी होता । धर्माधर्मका भोग देता ।
जो करता वह भोगता । पर लोकमें ॥ ६ ॥

किंतु परत्र औ' देव न दीखता । इसीलिये वह सब होता वृथा ।
तथा कर्ता जब है मर जाता । भोगेगा कहां कौन ॥ ७ ॥

सुखी है इंद्र उर्वशीके संगमें । रहता है जैसे अमरावतीमें ।
वैसे मानता है कीडा कीचडमें । अपनेको भी ॥ ८ ॥

इसलिये है नरक स्वर्ग । नहीं है पाप-पुण्यका भाग ।
दोनों स्थानमें है सुख–भोग । कामका ही ॥ ९ ॥

इसी कारणसे काम । रत स्त्री-पुरुष युग्म ।
मिलने लेता है जन्म । जग संपूर्ण ॥ ३१० ॥

तथा जो जो अभिलाषा करता । स्वार्थके लिये उसको पोसता ।
जिससे परस्पर द्वेष होता । काम करता नाश ॥ ११ ॥

तभी काम बिन कुछ भी नही । जगके मूलमें कुछ भी कहीं ।
इसभांति बोलते हैं जो यही । आसुरी लोग ॥ १२ ॥

रहने दो यह व्यर्थ भाषण । बढाता नहीं इसका व्याख्यान ।
होती है इससे निष्फल जान । वाचा-शक्ति ॥ १३ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

लोक-क्षयके लिये ही आसुरी लोगोंका जन्म होता है—

तथा ईश्वरका तिरस्कार । यही होता इनका विचार ।
विश्वमें नहीं कोई ईश्वर । यह निश्चय उनका ॥ १४ ॥

अथवा खुलकर बाहर । देहमें पाखंड भरकर ।
नास्तिकताकी अस्थि अंदर । रोपते हैं ॥ १५ ॥

लेकर दृष्टिको ऐसी नष्टात्मा ज्ञान-हीन जो ।
नाशार्थ विश्वके सारे निकले रिपु हिंसक ॥ ९ ॥

स्वर्गके लिये नहीं आदर । न नरकका तिरस्कार ।
जला है यह वासनांकुर । उनके मनमें ॥ १६ ॥

केवल खोडा-रूप यह शरीर । गंदे पानीका बुल्ला-सा बनकर ।
विषय-कीचमें ऊठ फूटकर । मिट जायेगा ॥ १७ ॥

नासने होते जब जल चर । वहां पहुंचते तब धीवर ।
या गिरना होता जब शरीर । उदय होते रोग ॥ १८ ॥

उदय होना धूमकेतुके जैसे । जगके अहित हेतु होना वैसे ।
जनमते ये असुर-लोग वैसे । लोक-क्षय हेतु ॥ १९ ॥

उदय होने पर अशुभ । उसमें फूटते जैसे कोंभ ।
वैसे पापका ये कीर्ति-स्तंभ । चलते फिरते हैं ॥ ३२० ॥

जो मिलता वह सब जलाना । आगका अन्य कुछ भी न जानना ।
वैसे सबका विरोध ही करना । इनका स्वभाव ॥ २१ ॥

इसका कारण यही है अर्जुन । आरंभ करते उत्साहसे जान ।
कहता इस उत्साहका कारण । सुन तू अब ॥ २२ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तंतेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

आसुरी-वृत्ति धर्म-धेनूका आहार तोडती है —

पानीसे न भरता धीवरका जाल । इंधन पर्याप्त न माने अग्नि ज्वाल ।
वैसे अतृप्त रहता काम कराल । सदैव भूखा ही ॥ २३ ॥

ऐसे कामका ले आश्रय । जीव भावसे धनंजय ।
दंभ मानका समुदाय । जुटाता है ॥ २४ ॥

काम दुर्भर जो सेके मानी दांभिक मत्त हो ।
हठके बलसे मूढ करते पाप निर्घृण ॥ १० ॥

वैसे ही मद-भरा कुंजर । उसीमें चढ़ा मद्यका ज्वर ।
तब बढ़ जाता मद-भार । बुढापेका ॥ २५ ॥

बनता तब हठका स्थान । करता मूढ़ताका वरण ।
फिर क्या करना है वर्णन । उसके निश्चयका ॥ २६ ॥

पर-ताप जिससे घड़ता । दूसरोंका जीव कुचलता ।
उन्हीं कामोंमें गढ़ जाता । जीव-भावसे ॥ २७ ॥

अपने कियेका फिर बखान । तथा जगको दें धिःकार दान ।
दश दिशामें करें प्रसारण । आशा-जाल ॥ २८ ॥

ऐसे विकारसे भर । पाप-कर्म कर घोर ।
धर्म-धेनुका आहार । तोडते हैं ॥ २९ ॥

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

काम-प्रचोदनसे कर्म-प्रवृत्ति—

इसी सामग्रिपे चलती । उनकी जो कर्मकी गती ।
मृत्युसे भी नहीं खूटती । चिंता उनकी ॥ ३३० ॥

पातालसे भी होती जो निम्न । ऊंचाईमें छोटा है गगन ।
विशालतामें है त्रिभुवन । अणुसा लगता ॥ ३१ ॥

योग-पटका जैसे स्मरण । जीवमें असीम विवंचन ।
साथ देता मृत्यु तक जान । पतिव्रता जैसे ॥ ३२ ॥

चिंता वह ऐसी अपार । बढ़ाता जाता निरंतर ।
हृदयमें भर असार । विषयादिक ॥ ३३ ॥

स्त्रियोंका गाना सुनना । उन्हें आंखोंसे देखना ।
सर्वेंद्रिय आलिंगना । स्त्रियोंके ही ॥ ३४ ॥

असीम करते चिंता मृत्युसे भी न खूटती ।
कामोपभोगमें चूर मानो सर्वस्व है वह ॥ ११ ॥

अमृत भी निछावर करना । ऐसा सुख सुनहीं है स्त्रीके बिना ।
करता है ऐसा उसका मन । निश्चय पार्थ ॥ ३५ ॥
फिर स्त्री भोगके कारण । दौडते हैं तीनों भवन ।
दस दिशाओंमें अर्जुन । उसके परे भी ॥ ३६ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

सुख-भोगके लिये पापसे धन-संचय—

आमिष कौरकी बडी आशासे । न सोच निगलता मीन जैसे ।
होती है विषयाशा उन्हे वैसे । पांडुकुमार ॥ ३७ ॥
नहीं होती कभी वांछित प्राप्ति । किंतु करोडोंकी आशा-संतति ।
बढ़ते बढ़ते है वह होती । कोश-कीटक ॥ ३८ ॥
तथा फैलाते जो अभिलाश । पूर्ण न होता बनता द्वेष ।
ऐसा काम-क्रोध ही विशेष । बनता पुरुषार्थ ॥ ३९ ॥
दिनमें चलना रातमें जागना । जैसे होता चौकीदारका जीना ।
दिन-राति विश्रांति नहीं जाना । उसी भांति ॥ ३४० ॥
ऊंची चोटीसे काम है ढकेलता । नीचे क्रोध पत्थरपे पटकता ।
फिर भी राग-द्वेष नहीं छूटता । विषयोंसे उसका ॥ ४१ ॥
हृदयमें ऐसे विषयोंकी भूख । जुटाये विषय-साधन अनेक ।
भोगके लिये जो अति आवश्यक । किंतु द्रव्य है कहां ॥ ४२ ॥
तभी भोग-पूर्तिमें हो आसक्त । जुट जाते हैं धन-संचयार्थ ।
तथा लूटते हैं विश्वको नित । मनमाने जो ॥ ४३ ॥
एकको मारते समय साधकर । तो दूसरेका सर्वस्व ही छीनकर ।
तीसरेके लिये बनाते हैं आखर । अपाय तंत्र ॥ ४४ ॥

आशाके कसके पाश डूबे हैं काम-क्रोधमें ।
चाहते सुख-भोगार्थ पापसे धन-संचय ॥ १२ ॥

जाल पाश तीर कुकर । भाला बाज छुरा लेकर ।
चला मानो चिडियामार । शिकार करने ॥ ४५ ॥

पालनेके लिये एक पेट । चिडियों पर ढाते संकट ।
ऐसा ही आचरण निकृष्ट । करते ये लोग ॥ ४६ ॥

कर पर-प्राण घात । कमाकर लाते वित्त ।
उससे हो कैसे चित्त । संतुष्ट किसका ॥ ४७ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

गार्थ असीम आशा और वैर—

कहता है आज अर्जुन । कर लिया सबका धन ।
सहज अपने स्वाधीन । धन्य हूं मैं ॥ ४८ ॥

आत्म-श्लाघा भाव यह उत्पन्न । होनेसे बहता उसका मन ।
लूटूंगा कल औरोंका भी धन । कहता ऐसे ॥ ४९ ॥

ऐसे यह जुटाया मैंने इतना । इसका आधार बनाके अपना ।
लाभमें पाऊंगा रही सही नाना । संपदा विश्वकी ॥ ३५० ॥

ऐसा विश्वका सब धन । करूंगा अपने स्वाधीन ।
फिर जिसके हो नयन । मिटा दूंगा ॥ ५१ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलान्सुखी ॥ १४ ॥

मारे मैंने शत्रु जो कुछ । मारूंगा कल बचे जो तुच्छ ।
करूंगा शासन बन उच्च । अकेला ही मैं ॥ ५२ ॥

जुटाये आज ये लाभ जुटेंगे और भी कल ।
यह है वह भी होगा मेरी ही सब संपदा ॥ १३ ॥

मैंने वह शत्रु मारा मारूंगा दूसरा फिर ।
स्वामी मैं और मैं भोक्ता सुखी मैं सिद्ध मैं बली ॥ १४ ॥

बनके रहेंगे यदि मेरे दास । नहीं तो करूंगा मैं उनका नाश ।
अथवा मानो विश्वमें मैं हूं ईश । चराचरका सब ॥ ५३ ॥
इस भोग-भूमिका मैं प्रधान । सब सुख-भोगका मैं हूं स्थान ।
इंद्र भी देखके मनही मन । करेगा ईर्षा ॥ ५४ ॥
चाहूंगा मैं काया वाचा मन । होगा वह निश्चित संपन्न ।
मेरे विना नहीं कोई जान । ऐसा आज्ञा-सिद्ध ॥ ५५ ॥
न देखा जब तक मेरा बल । तब तक बली है वह काल ।
मैं हूं सुखका सदन निश्चल । एक ही एक ॥ ५६ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

आसुरी लोगोंके अभिमानका रूप —

होगा कुबेर महा संपन्न । किंतु नहीं है मेरे समान ।
संपन्नतामें मेरे समान । लक्ष्मीपति भी नहीं ॥ ५७ ॥
मेरे कुलकी उज्ज्वलता । जाति-गोतमें जो श्रेष्ठता ।
उसके सन्मुख अल्पता । दीखती ब्रह्माकी भी ॥ ५८ ॥
अपनी बढाई वे इस प्रकार । ईश्वरादिको भी व्यर्थ मानकर ।
अपनेको सर्व-श्रेष्ठ बताकर । करते रहते हैं ॥ ५९ ॥
लोप हुवा अब अभिचार । करूंगा उसका जीर्णोद्धार ।
प्रतिष्ठा करूंगा पर-मार । यज्ञकी अब ॥ ३६० ॥
मेरे गुण-गीत जो गायेंगे । नाट्यादिसे मुझे रिझायेंगे ।
जो मांगेंगे उसे वह देंगे । सभी वस्तु ॥ ६१ ॥
मादक अन्न पेय पानमें । प्रमदाओंके आलिंगनमें ।
बनूंग मैं तीनों भुवनमें । आनंद-रूप ॥ ६२ ॥

मैं हूं कुलीन संपन्न कौन है मुझसा कहां ।
यज्ञ-दान-विलासी मैं मानते अज्ञ मोहसे ॥ १५ ॥

कहूं मैं कितना तुझे अर्जुन । आसुरीके ऐसे पागलपन ।
सूंघा करते गगन-सुमन । ऐसे ही वे ॥ ६३ ॥

अनेकचित्तविभ्रांता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

मोह-आंधीमें फंसकर तमांधमें चक्कर काटते रहते हैं—

ज्वरमें भरके जैसे । भ्रमता है रोगी वैसे ।
बांधता है संकल्पसे । मनोरथ सारे ॥ ६४ ॥

अज्ञान-धूलमें भरकर । आशाकी आंधीमें उडकर ।
नभमें घूमते गरगर । मनोरथोंके ॥ ६५ ॥

अनियमित आकाशके मेघ । या सागरके तरंग अभंग ।
वैसे कामना कामके तरंग । उठते अखंड ॥ ६६ ॥

ऐसी ही जो कामनायें अती । हृदयमें लगायें रहती ।
उसी परसे खींची जाती । कमल-कलियां ॥ ६७ ॥

या पाषाणके सिरपर । पड फूटते हैं गागर ।
जीवन वैसे निरंतर । होता है फूटा ॥ ६८ ॥

बढती जाती जैसे रात । बढता है तम सतत ।
जीवमें ऐसे मोह नित । बढता जाता है ॥ ६९ ॥

तथा बढता जैसे मोह । बनता विषयोंका गृह ।
विषयोंके लेते हैं थाह । पातक सारे ॥ ३७० ॥

अपने बलसे जब पाप । आते जहां एकत्र समीप ।
सभी नरक आते हैं आप । जीवनमें ही ॥ ७१ ॥

इसीलिये जान तू पार्थ । पालते जो कु-मनोरथ ।
बसते नरकमें नित । असुरलोग ॥ ७२ ॥

भ्रममें भरके ऐसे जकडे मोह-जालमें ।
गिरते विषयासक्त नरकमें अमंगल ॥ १६ ॥

वहां असि-पत्रके तरुवर । पलते अंगारके डोंगर ।
तपे हुए तेलके सागर । उछलते हैं ॥ ७३ ॥

यातनाके जो नित नये प्रकार । समझानेके वहां यही आधार ।
मिलते हैं जो सदैव भयंकर । नरक-लोकमें ॥ ७४ ॥

ऐसे नरकके लिये भयंकर । जनम लिये जो लेके अधिकार ।
करते हैं वे भ्रममें पड़कर । यज्ञ याग ॥ ७५ ॥

वैसे यज्ञादिककी है जो क्रिया । देती अपना फल धनंजया ।
किंतु नाटकका-सा स्वांग लिया । पाया कुफल ॥ ७६ ॥

पतिका करके जो आश्रय । प्रियकरकी होकर प्रिय ।
मनमें मानती धनजय । सौभाग्यवती आप ॥ ७७ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजंते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

उपहार लूटनेके लिये यज्ञ करते हैं—

अपने आपको मन ही मन । पूजके अपना महंतपन ।
फूलता जाता है असाधारण । अहंमन्यतामें ॥ ७८ ॥

नहीं जानते झुकना कैसे । लोहेके ढले हुये स्तंभ जैसे ।
या गगन-चुंबी शिखर जैसे । खडे हैं पाषाणके ॥ ७९ ॥

अपनी ही सज्जनतासे आप । मनमें ही संतुष्ट हो अमाप ।
तिनकासा मानते परंतप । सारे विश्वको ॥ ३८० ॥

धनकी मदिरा फिर । पीनेसे मस्त हो कर ।
कृत्याकृत्य भूलकर । सबसे होते भिन्न ॥ ८१ ॥

जहां जुटी संपदा इस भांति । वहां यज्ञकी बात कैसे आती ।
किंतु पगलेको क्या न सूझती । किस समय ॥ ८२ ॥

स्वयं-पूजित गर्विष्ठ मदांध धन-मानमें ।
नामके करते यज्ञ दंभसे अव्यवस्थित ॥ १७ ॥

जैसे वे कभी किसी समय । मद्य माध्यम आ धनंजय ।
करते यज्ञका दंभमय । सारा स्वांग ॥ ८३ ॥

न कुंड न मंडप न वेदी । न उचित साधन समृद्धी ।
तथा उसकी न कुछ विधी । जिससे द्वेष ही सदा ॥ ८४ ॥

देव ब्राह्मणोंके नामका मान । गंध भी उसे न होता सहन ।
तब वहां आयेगा कैसे कौन । अपने मनसे ॥ ८५ ॥

बछियाका बनाकर भूत । गायके सम्मुख रख नित ।
चूस लेते हैं दूध सतत । धूर्त जैसे ॥ ८६ ॥

वैसे यज्ञका लेकर नाम । जगको दिखाकर धरम ।
लोगोंके चूस लेते हैं दाम । उपहार रूप ॥ ८७ ॥

सोचके अपना उत्कर्ष । होममें जो कुछ विशेष ।
उससे वे सर्व-नाश । चाहते औरोंका ॥ ८८ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

आसुरी बर्तावसे अंतरात्माको दुःख होता है—

आगे आगे भेरी फिर निशान । लगाके अपना दीक्षितपन ।
जगमें करते आप घोषण । भले रे हम भले ॥ ८९ ॥

ऐसे महत्वसे तब ये अधम । अहंतासे बनते महा-महिम ।
मानो काले पुटसे बनता तम । घोर अमावस काली ॥ ३९० ॥

इससे होती मूढता दृढ । बढती उद्दंडता उद्दंड ।
चढते अहंकारपे गाढ । पुट अविवेकके ॥ ९१ ॥

फिर दूसरोंकी भाष । करनेमें पूर्ण नाश ।
बल चढता विशेष । सामर्थ्यका ॥ ९२ ॥

भरके काम औ' क्रोध अहंता बल दर्पसे ।
मेरा स्व-पर देहोंमें करते द्वेष मत्सर ॥ १८ ॥

ऐसे अहंकार बल । मिलकरके सकल ।
दर्प सागर उछल– । आता असीम ॥ ९३ ॥

ऐसे उछलता हुवा दर्प । बढ़ाता काम-पित्त-प्रकोप ।
पाकर उसका फिर ताप । भड़कता क्रोधाग्नि ॥ ९४ ॥

तब मानो जेठका जलाता आतप । तथा तेल घीका साथ ले हो प्रकोप ।
होता अग्नि-वायुका तांडव-प्रताप । उसी भांति ॥ ९५ ॥

अहंकारके साथ बल । दर्प काम-क्रोधसे मिल ।
प्रकट हुवा जिस स्थल । पांडुकुमार ॥ ९६ ॥

ले अपना वे आदेश । रखेंगे क्या रीता शेष ।
करनेमें सर्व-नाश । कौनसा कहां ॥ ९७ ॥

पहले वे धनुर्धर । अपना मांस रुधिर ।
देंगे सब परमार । अभिचारार्थ ॥ ९८ ॥

जहां जलते हैं सब तन । उसमें जो "मैं" होता अर्जुन ।
उस "मैं" आत्मापे आक्रमण । होता है वह ॥ ९९ ॥

तथा ऐसा अभिचार होता कहां । उपद्रव उसके हो जहां तहां ।
मैं रूप चैतन्य होता वहां वहां । उसे होती पीड़ा ॥ ४०० ॥

रहते हैं जो अभिचारसे भिन्न । उनपे दोष-दृष्टिके पाषाण ।
फेंकते रहते हैं जो अर्जुन । सदा सर्वत्र ॥ १ ॥

तभी मैं उनको दंड देता हूँ—

सती तथा जो है सज्जन । दानशील याज्ञिक जन ।
तपस्वी अद्भुत महान । संन्यासी भी ॥ २ ॥

भक्त या होते हैं महात्मा । होते जो मेरा निज-धाम ।
आधार लेता नित धर्म । उनके सदनका ॥ ३ ॥

द्वेषसे भर ऐसों पर । कालकूटसे भरकर ।
अपशब्दोंके तीखे तीर । चलाते रहते हैं ॥ ४ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

इसभांति सभी प्रकारसे । बरतते हैं मेरे शत्रुसे ।
सुन तू मैं उन पापियोंसे । कैसे निपटता हूं ॥ ५ ॥

मानव-देहका ले आश्रय । करते हैं जगतका क्षय ।
वह पदवी मैं धनंजय । छीन लेता हूं ॥ ६ ॥

तथा फेंकता क्लेश-ग्रामके घूरे पर । अथवा भव-पुरके पन-घाट पर ।
उस तम-योनिमें ऐसे मूढोंको फिर । देता हूं जन्म ॥ ७ ॥

फिर आहारके नामसे जहां । घास भी नहीं उगता है वहां ।
व्याघ्र वृश्चिक सब आते कहां । वहां डालता ॥ ८ ॥

भूखके दुःखसे तडपते । अपने आपको तोड खाते ।
जनमते मरते रहते । उस स्थानपे ॥ ९ ॥

अपने ही विषसे जिनके । चर्म हैं जलते शरीरके ।
बिलमें रहते सिकुडके । सांप बन वह ॥ ४१० ॥

श्वास लेनेमें है जाता । जिनका समय पार्था ।
आराम नहीं मिलता । उन दुर्जनोंको ॥ ११ ॥

ऐसे करोडों कल्प । गिननेमें है अल्प ।
उतना काल खप- । जाता उनका ॥ १२ ॥

उनको जिस स्थानपे है जाना । पहला पडाव है यह स्थान ।
आगेके होते हैं अति दारुण । दुःख उनके ॥ १३ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

द्वेषी क्रूर तथा पापी जगमें हीन जो जन ।
उन्हें मैं फेंकता नित्य आसुरी योनिमें फिर ॥ १९ ॥

आसुरी योनियां पाके अनेक जन्म जन्ममें ।
मुझसे न मिले ही वे पाते जाते अधोगति ॥ २० ॥

सुन उन्होंने इस भांति । कमाके आसुरी संपत्ति ।
पायी है ऐसी अधोगति । उसके बदलेमें ॥ १४ ॥

फिर व्याघ्रादि तामस । योनियोंमें है अल्पसा ।
देहधारण ढारस । मिलता है ॥ १५ ॥

वह भी मैं फिर छीन लेता । तब तमका ढेर बनाता ।
अंधारभी काला हो जाता । वहां पहुंचके ॥ १६ ॥

आसुरी लोगोंके लिये ज्ञानेश्वरकी करुणा—

तब उससे पाप भी घिनाता । नरक भी उससे भय खाता ।
थकान श्रमसे मूर्छित होता । थककर जो ॥ १७ ॥

इनसे मल भी मलता । ताप भी इनसे तपता ।
इनके नामसे डरता । महा भय भी ॥ १८ ॥

पाप भी इनसे उकताता । अशुभ इनसे है अशोभता ।
भ्रष्टत्व भी इनसे है डरता । भ्रष्टाचारसे ॥ १९ ॥

विश्वमें जो अति हीन । अधम तम अर्जुन ।
भोगते वे सब स्थान । तामस योनिके ॥ ४२० ॥

रोती है वाचा कहनेमें कथा । स्मरणसे मन पीछे हटता ।
मूर्खोंने कितना जोडा है पार्था । यह पाप सारा ॥ २१ ॥

किसलिये कह ये असुर । संपत्ति पोसते भयंकर ।
होती ऐसी अधोगति घोर । केवल मात्र ॥ २२ ॥

इसलिये तुझे धनुर्धर । जहां संपदा होती आसुर ।
मुडना भी कभी उस ओर । है अनुचित ॥ २३ ॥

तथा दंभादि छ दोष । करते हैं जहां वास ।
तजना है सहवास । उनका सदैव ॥ २४ ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

काम क्रोध तथा लोभ करते आत्म-नाश जो ।
तीन ये नरक-द्वार टालना इनको नित ॥ २१ ॥

काम-क्रोधसे सदा-सर्वत्र दूर रहना चाहिये—

काम-क्रोध तथा लोभ । फूटते तीनोंमें कोंभ ।
फलता वहां अशुभ । जान तू यह ॥ २५ ॥

समस्त दुःखोंका अर्जुन । करानेके लिये दर्शन ।
नियुक्त किये हैं ये तीन । पथ-दर्शक ॥ २६ ॥

या पापियोंको नरक-भोगमें । पहुँचानेके लिये जगतमें ।
पातकोंकी वीर परिषदमें । श्रेष्ठ ये तीन ॥ २७ ॥

रौरवादि नरक महान । सुनाते नहीं कभी पुराण ।
जब तक न उठते तीन । हृदयमें ये ॥ २८ ॥

अपाय होते इससे सुलभ । होता है यातनाओंका लाभ ।
"हानी" हानी नहीं होती अशुभ । हानी ये तीन ॥ २९ ॥

क्या कहू मैं धनुर्धर । कहे ये निकृष्ट चोर ।
तथा नरकका द्वार । खुला हुआ ॥ ४३० ॥

काम-क्रोध लोभमें जीव । पोसता है जो निज-भाव ।
सम्मान पाता है पांडव । नरक-सभामें ॥ ३१ ॥

इसीलिये तू पुनःपुन । काम-क्रोध लोभ ये तीन ।
दक्ष रहके निशिदिन । तजना पार्थ ॥ ३२ ॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

पहले छोड इनका साथ । फिर है धर्मादि पुरुषार्थ ।
करनेकी बात है पार्थ । सोचना सारी ॥ ३३ ॥

हृदयमें ये तीन हैं जागृत । तबतक भलाई होगी प्राप्त ।
ऐसी नहीं सुनी गयी है बात । देवोंसे भी ॥ ३४ ॥

तमके द्वार ये तीन टालके छूटता जब ।
कल्याणमार्गसे जाके पाता है गति उत्तम ॥ २२ ॥

अपनेसे है जिसकी प्रीति । तथा है आत्म-नाशकी भीति ।
न करना उसको संगति । इन तीनोंकी ॥ ३५ ॥

गलेमें बांधा कर पाषाण । करें सिंधुका अतिक्रमण ।
या जीनेके लिये है भोजन । करना कालकूट ॥ ३६ ॥

इन काम-क्रोध लोभका साथ । कार्य सिद्धिमें ऐसा है सतत ।
इसीलिये जड़-मूलसे पार्थ । मिटाना इसे ॥ ३७ ॥

इन तीनोंकी जब । कडी टूटेगी तब ।
अपनी राह सब । होगी प्राप्त ॥ ३८ ॥

त्रिदोषके छोडनेसे शरीर । त्रिकूटिका मिटनेसे नगर ।
त्रिदाह मिटनेसे है अंतर । शांत होता वैसे ॥ ३९ ॥

वैसे कामादिक जो ये तीन । तजते वे सुख पाते जान ।
मोक्ष-मार्गमें वे ही सज्जन- । संग पाते हैं ॥ ४४० ॥

सत्संगसे फिर प्रबल । तथा ले सत्शास्त्रका बल ।
पार होते वन सकल । जन्म-मृत्युके ॥ ४१ ॥

जिसमें आत्मानंद पूर्ण । बसता है वह सदन ।
तथा पाता है वह पट्टन । गुरु-कृपाका ॥ ४२ ॥

प्रिय-वस्तुओंकी जो परिसीमा । मिलती है वहां माऊली आत्मा ।
तथा नहीं बजता है डिंडिम । संसारका वहां ॥ ४३ ॥

ऐसे जो काम-क्रोध लोभ । झाड़कर खड़ा है तब ।
स्वामी बन पाता है लाभ । इतने सारे ॥ ४४ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥ २३ ॥

नहीं भाता जिसे यह कुछ । कामादिक ही है सब कुछ ।
इसीमें जाता है स्वपच । आत्मघाती वह ॥ ४५ ॥

छोड जो शास्त्रका मार्ग करता स्वैर-वर्तन ।
न पाता सिद्धिका मार्ग तथा सुख न सद्गति ॥ २३ ॥

जगमें जो समान सकृप । हिताहित दिखाता है दीप ।
वह अमान्य करता बाप– । वेदको जो ॥ ४६ ॥

आसुरी स्वैराचारी इह-परमें सुख शांति नहीं पा सकता—

नहीं करता विधिका पालन । न है जिसको आत्म-हित भान ।
बढ़ाता जाता है भूख नित अर्जुन । इंद्रियोंकी जो ॥ ४७ ॥

कामादिकका आश्रय नहीं छोड़ूंगा । अपने वचनका पालन करूंगा ।
कहकर स्वेच्छाचार रत रहेगा । कुमार्गी जो ॥ ४८ ॥

मुक्ति-प्रवाहका नीर । नहीं पा सकेगा वह नर ।
स्वप्नमें भी यह धनुर्धर । असंभव जान ॥ ४९ ॥

गया ही उसका पर-लोक । किंतु सुख भी वह ऐहिक ।
भोग नहीं सकता तू देख । भली भांति ॥ ४५० ॥

मछलीकी आशासे ब्राह्मण । बन गया जो धीवर मान ।
वहां भी उसे नास्तिक जान । न लेंगे अपनेमें ॥ ५१ ॥

विषयका लोभ धरकर । खोता पारलौकिक जो नर ।
उसको यहांसे भी सत्वर । ले जाती मृत्यु ॥ ५२ ॥

ऐसे पर-लोकमें ना स्वर्ग । यहां भी नहीं सुखोपभोग ।
तब आयेगा कैसा प्रसंग । मोक्षका वहां ॥ ५३ ॥

तभी करके कामका बल । सुख-भोग चाहते सकल ।
वे दोनोंमें होते हैं विफल । न होता उद्धार ॥ ५४ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

वेद आज्ञाके अनुसार कर्तव्य करते जा—

इस कारणसे अर्जुन । चाहता जो अपना कल्याण ।
वेदकी आज्ञाका उल्लंघन । न करें कभी ॥ ५५ ॥

व्यवस्था जान लेनेमें यहां कार्य अकार्यकी ।
जानके शास्त्रकी आज्ञा कर तू सब कर्मको ॥ २४ ॥

जान कर पतिका मत । उसपे चलके सतत ।
सहज पाती आत्म-हित । पतिव्रता जैसे ॥ ५६ ॥

अथवा श्रीगुरुका वचन । करके नित परिपालन ।
कर लेना है आत्म-भवन । अपना वैसे ॥ ५७ ॥

अंधेरेमें रखा कोई सामान । प्राप्त करलेना हो तो अर्जुन ।
सदा दीप करते हैं जान । आगे वैसे ॥ ५८ ॥

पुरुषार्थोंका संपूर्ण । स्वामी होना तो अर्जुन ।
श्रुति स्मृतिके वचन । मानना वंद्य ॥ ५९ ॥

शास्त्र कहता यदि कुछ तजना । राज्य सुख भोग भी तृण मानना ।
विष लेने कहता तो ना कहना । शब्द भी विरुद्ध ॥ ४६० ॥

ऐसी जिसकी वेदकी निष्ठा । स्थिर हुई तो देख सुभटा ।
होगी कैसी आहितकी भेट । कहां किसको ॥ ६१ ॥

अहितसे जो निकालती । हित करके जो बढाती ।
ऐसी दूसरी न दीखती । श्रुति-मातासी ॥ ६२ ॥

कराती यह ब्रह्मसे मिलन । न करना कभी अवहेलन ।
कर तू इसका सदा अर्जुन । विशेष आश्रय ॥ ६३ ॥

आज तू यहां है पार्थ । शास्त्रोंको सुनले सार्थ ।
जन्म लिया है हितार्थ । धर्म-कार्यके ॥ ६४ ॥

तथा धर्मानुज नामसे । बोध होता सहजतासे ।
इससे भिन्न कुछ ऐसे । करना नहीं ॥ ६५ ॥

कार्याकार्यका विवेक । करना शास्त्रोंको देख ।
अकृत्य जो कुछ देख । तजना उसे ॥ ६६ ॥

तथा जो कुछ है करणीय । दृढतासे उसका आश्रय ।
करके संपन्न धनंजय । करना उसको ॥ ६७ ॥

विश्व-प्रामाण्यकी जो है मुद्दी । आज तेरे हाथमें सुबुद्धी ।
लोक-संग्रहार्थ तू त्रिशुद्धी । योग्य है इससे ॥ ६८ ॥

लहवें अध्यायका ज्ञानेश्वर कृत समालोचन—

ऐसे आसुरी भाव संपूर्ण । तथा उसके सब लक्षण ।
कहे मुक्त होनेके साधन । कृष्णने पार्थसे ॥ ६९ ॥

इस पर वह पुत्र पांडुका । पूछेगा भाव अपने जीवका ।
सुनो वह सब दे चैतन्यका । कान बनाकर ॥ ४७० ॥

व्यास कृपासे संजय सुनाता । तथा इसे कुरु-नृप सुनता ।
श्रीगुरु कृपासे मैं सुनाता । इसको यहां ॥ ७१ ॥

आप संत-जन मेरी ओर । कृपा-वर्षा करें यहां पर ।
मैं आपकी मान्यतानुसार । बनूंगा स्वामी ॥ ७२ ॥

इसीलिये निज अवधान । मुझको देना पसायदान ।
जिससे बनुं सामर्थ्यवान । कहता ज्ञानदेव ॥ ७३ ॥

गीता श्लोक २४

ज्ञानेश्वरी ओवी ४७३

१७

श्रद्धा - निरूपण - योग

गणेशरूप गुरुवंदन—

विश्व - विकसित - मुद्रा । छोड तेरी योग - निद्रा ।
नमन जीव - गणेंद्रा । सद्गुरु तुझे ॥ १ ॥

त्रिगुण - पुरमें जो घिरा गया । जीवत्व दुर्गमें अटका गया ।
वह आत्मा - शत्रुने छुडालिया । तेरे स्मरणसे ॥ २ ॥

तभी शिवसे करके तुलना । जान लिया तू है अति महान ।
मुमुक्षु - जीव करता तारण । तभी तू है हलका ॥ ३ ॥

तेरे विषयमें जो मूढ़ । उनको है तू वक्र - तुंड ।
ज्ञानियोंके लिये अखंड । सन्मुख ही तू ॥ ४ ॥

देखनेमें छोटी देवकी दृष्टि । किंतु मिलनोन्मिलनमें सृष्टि ।
करती सृष्टि लय दोनों गोष्टि । सहज लीलासे ॥ ५ ॥

प्रवृत्ति कर्णकी हलचलसे । छूटे मद गंधानिलसे ।
पूजा करते नील कमलसे । जीव - भ्रमरोंके ॥ ६ ॥

निवृत्ति कर्णके हिलनेसे फिर । पूजा वह सहज व्यर्थ होकर ।
दिखाता तब अपना अलंकार । खुले शरीरका ॥ ७ ॥

मानो वामांगीका लास्य विलास । जो है वही जगद्रूप आभास ।
तांडव नृत्य - कलाका विलास । दिखाता है तू ॥ ८ ॥

देख होता है यह चकित । होता है तू जिसका भी आप्त ।
आप्त व्यवहारसे विरत । होता है वह ॥ ९ ॥

मिटाता तू बंधनका ठाव । तभी तू जगद्‌बंधु यह भाव ।
तेरे लिये योग्य यह वैभव– । युत नाम ॥ १० ॥

द्वैतके नामसे जिसको । देह भी न रहे उसको ।
अपनासा किये तुमको । देवराय ॥ ११ ॥

पानेके लिये तुझको । दौड़ते जाते उनको ।
रखता सदा दूरको । अपनेसे तू ॥ १२ ॥

ध्यानसे लाता है जो मनमें । न होता तू उसके गांवमें ।
तुझे भूलता तो स्व-बोधमें । उसका होता तू ॥ १३ ॥

तू सिद्ध है जो न जानता । दिखाता वह सर्वज्ञता ।
वेदोंकी भी ऐसी जो वार्ता । नहीं सुनता तू ॥ १४ ॥

तेरा राशि-नाम है मौन । तब कैसे करूं स्तवन ।
देखना सब मिथ्या जान । नमन वैसे कैसे ॥ १५ ॥

यदि मैं सेवक बनना चाहता । भेद करनेसे मैं द्रोही बनता ।
इसलिये कुछ भी नहीं हो पाता । आपका मैं ॥ १६ ॥

सर्वथा कुछ भी नहीं होना । तुझ अद्वयकी प्राप्ति होना ।
तेरा यह मार्ग मैंने जाना । आराध्य-लिंग ॥ १७ ॥

अपनेको पूर्ण विलीन । करके रसमें लवण ।
भजना है वैसे नमन । मौनसे मेरा ॥ १८ ॥

रीता कुंभ जैसे सिंधुमें जाता । तथा पूर्ण भरके निकलता ।
अथवा दीप संगसे है बनता । बात भी दीप ॥ १९ ॥

करके तुझे मैं प्रणिपात । पूर्ण हुवा श्रीनिवृत्तिनाथ ।
करूंगा अब वह गीतार्थ । प्रकट मैं देव ॥ २० ॥

सोलवे अध्यायका समारोप और सत्रहवीकी भूमिका—

सोलहवे अध्यायके अंतमें । उसके समाप्तिके श्लोकमें ।
ऐसा कहा निश्चितपनमें । परमात्माने ॥ २१ ॥

कार्याकार्यकी है जो व्यवस्था । आचरण करनेमें पार्था ।
मानना तुझे शास्त्र सर्वथा । प्रमाण एक ॥ २२ ॥

तब अर्जुनका मानस । कहता यह ऐसा कैसा ।
शास्त्रके बिना नहीं ऐसा । कर्मसे मुक्ति ॥ २३ ॥

तक्षकके फन परसे । निकाल लेना मणि कैसे ।
अथवा तोडें बाल कैसे । सिंहकी नाकका ॥ २४

मणि तब उसमें पिरोना । तथा अलंकारसे सजना ।
नहीं तो क्या वैसे ही रहना । खुले गलेसे ॥ २५ ॥

शास्त्रोंकी जो मत-भिन्नता । उसे कहो कौन जानता ।
होगी कैसी एक-वाक्यता । फलदायी उसकी ॥ २६ ॥

होने पर भी एक-वाक्यता । होगी क्या आचरण शक्यता ।
तथा जीवन होगा विस्तृत । इतना कैसे ॥ २७ ॥

तथा शास्त्र अर्थ देश काल । इन चारोंका जो एक फल ।
मिलेगा ऐसा योग सकल । किसको कब ॥ २८ ॥

तभी शास्त्रोचित घड़ना । असंभव है यह जान ।
अज्ञानी जो मुमुक्षु जन । उसकी गति क्या ? ॥ २९ ॥

पूछनेमें यह अर्जुन । करता है प्रस्ताव जान ।
आरंभ कहांसे कथन । करनेका ॥ ३० ॥

सबके विषयमें जो वितृष्ण । तथा सकल कलामें प्रवीण ।
कृष्णको आश्चर्य है जो कृष्ण । अर्जुनत्वमें ॥ ३१ ॥

शौर्यसे जुड़ा हुवा आधार । तथा सोम-वंशका शृंगार ।
सुखादिके लिये उपकार । जिसकी लीला ॥ ३२ ॥

प्रज्ञाका है जो प्रियतम । ब्रह्म विद्याका है विश्राम ।
सहचर औ' मनोधर्म । देवका है जो ॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा
शास्त्रकी विधिको छोड श्रद्धासे पूजते जन ।
कौन सी उनकी निष्ठा सत्व या रज या तम ॥ १ ॥

शास्त्ररहित श्रद्धापूर्वक पूजनेवालोंकी क्या गति होती है?—

अर्जुन कहे तमाल-श्याम । इंद्रियोंसे गोचर तू ब्रह्म ।
करते हैं तेरे शब्द-ग्राम । साशंक हमको ॥ ३४ ॥

अन्य नहीं शास्त्रके बिन । जीवका स्व-मोक्ष साधन ।
ऐसे कहता तू श्रीकृष्ण । किसभांति ॥ ३५ ॥

यदि न मिलता ऐसा देश । तथा नहीं काल अवकाश ।
करना ऐसा शास्त्राभ्यास । वह भी दूर ॥ ३६ ॥

तथा अभ्यासके जो साधन । वह भी प्राप्त नहीं है जान ।
ऐसेमें करें क्या कैसे कौन । अभ्यास उसका ॥ ३७ ॥

अनुकूल नहीं प्राचीन । प्रज्ञाका साथ जिसे जान ।
दूर है शास्त्र-संपादन । उसके लिये ॥ ३८ ॥

अजी ! मानते शास्त्रका विषय । नहीं मिलता एक भी आश्रय ।
इसीलिये जिन्होंने छोड दिया । शास्त्रका विचार ॥ ३९ ॥

किंतु निर्धार कर शास्त्र । अर्थानुष्ठानसे पवित्र ।
वास करते जो पात्र । सुख पूर्वक ॥ ४० ॥

उनका-सा हमको होना । ऐसे सोच चित्तमें जान ।
करते हैं आलंबन । उस मार्गका ॥ ४१ ॥

देखके पाठके अक्षर । करे बालक अनुसर ।
अंधा चलता आगे कर । भलेको जैसे ॥ ४२ ॥

वैसे सर्व शास्त्र निपुण । उनका देख आचरण ।
चलते हैं जान प्रमाण । श्रद्धासे आप ॥ ४३ ॥

फिर शिवादिक पूजन । तथा भूम्यादि महादान ।
अग्नि-होत्रादि जो यजन । करते श्रद्धासे ॥ ४४ ॥

उन्हे कह सत्व रज तम । किसमें गिनता पुरुषोत्तम ।
मिले उनको कौन गति हम । जाने कैसे ॥ ४५ ॥

वैकुंठ पीठका तव लिंग । निगम-पद्मका जो पराग ।
जिसकी अंग छाया है जग । जीवित जान ॥ ४६ ॥

कालसे सहज प्रचंड । तथा जो लोकोत्तर प्रौढ़ ।
अद्वितीय परम गूढ । आनंद-घन जो ॥ ४७ ॥
इन गुणोंसे कीर्तिमान । जहां यह सामर्थ्य पूर्ण
बोलता ऐसे जो श्रीकृष्ण । स्वमुखसे यहां ॥ ४८ ॥

भगवान उवाच

त्रिविधा भवति श्रध्दा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तमसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रध्दा भी तीन प्रकारकी होती है—

कहता है श्रीहरि पार्थ ! तेरा भाव है मुझे ज्ञात ।
बाधक होती है बात । शास्त्राभ्यासकी ॥ ४९ ॥
केवल साधन मान श्रद्धा । पाना चाहो तो परम-पद ।
नहीं वह वैसे प्रबुद्ध । अज्ञात बात ॥ ५० ॥
श्रद्धा कहनेसे ही पार्थ । नहीं पायेगा सकलार्थ ।
द्विज क्या अत्यंजके साथ । न होगा अंत्यज ॥ ५१ ॥
हुवा भी यदि गंगोदक । मद्यके मटकेमें रख ।
लायेगा तो हो सके देख । पी सकता क्या ? ॥ ५२ ॥
चंदन होता है शीतल । किंतु अग्नि-ज्वालसे मिल ।
पकडा हुवा हाथ जल- । जायेगा न ? ॥ ५३ ॥
हीन कस सोनेके साथ । पुट दिया तो वह पार्थ ।
देगा शुद्ध सोनेका अर्थ । कभी वह ? ॥ ५४ ॥
ऐसे है श्रद्धाका जो स्वरूप । होता शुद्ध अपनेमें आप ।
किंतु मिलता है परंतप । जीवको जब ॥ ५५ ॥

श्रीभगवानने कहा

पाता स्वभावसे प्राणि श्रद्धा तीन प्रकारकी ।
सुन सात्विक है होती तथा राजस तामस ॥ २ ॥

स्वभावसे ही प्राणि जात । अनादि पापके पड हाथ ।
बन गये त्रिगुणके साथ । एक रूपसे ॥ ५६ ॥

उसमें पाते वे अवनति । तथा चाहते हैं वे उन्नति ।
होती है तब वैसी ही वृत्ति । जीवोंकी सब ॥ ५७ ॥

वृत्ति-सा तब संकल्प करते । संकल्प-सा सब कर्म करते ।
तथा कर्मानुसार ही करते । शरीर-धारण ॥ ५८ ॥

बीज मिटकर वृक्ष होता । फिर वृक्ष बीजमें समाता ।
कल्पोंसे ऐसे चलता आता । किंतु न नाशता वृक्ष ॥ ५९ ॥

उसी भांति है यहां अपार । होता रहता है जन्मांतर ।
त्रिगुणत्व अव्यभिचार । प्राणियोंके साथ ॥ ६० ॥

इसीलिये प्राणियोंके साथ । रहती है श्रद्धा जो सतत ।
जैसे होते गुण वैसे पार्थ । यह जान तू ॥ ६१ ॥

बढता कभी सत्वशुद्ध । ज्ञानकी चाह होती सिद्ध ।
किंतु दोनों होते विरुद्ध । यहां तब ॥ ६२ ॥

होती तब सत्य विषयक । श्रद्धा जो मोक्ष-फल दायक ।
किंतु रज तम सहायक । होंगे क्या कभी ॥ ६३ ॥

सत्वके बलको तोड कर । चढता रज आकाश पर ।
होती तब श्रद्धा कूडा घर । कर्म-उसका झाडू ॥ ६४ ॥

फिर उठती तमकी आग । करती है वह श्रद्धा भंग ।
तब चाहता विषय-भोग । भोगनेमें निषिद्ध ॥ ६५ ॥

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ।

ऐसे है सत्व रज तम । श्रद्धा-रूप जान सुवर्म ।
नहीं रखता जीव ग्राम । इससे कुछ भिन्न ॥ ६६ ॥

स्वभाव जिसका जैसे श्रद्धा वैसे मिले उसे ।
श्रद्धासे ही बना जीव श्रद्धा-सा वह भी रहा ॥ ३ ॥

इसीलिये श्रद्धा स्वाभाविक । रहती सदा त्रिगुणात्मक ।
रज तम तथा है सात्विक । भेद यहां जो ॥ ६७ ॥

जिस भांति है जीवन उदक । किंतु होता है विषमें मारक ।
अथवा होता है मिर्चमें तीख । ईखमें मधुर ॥ ६८ ॥

ऐसे पाता है जो जनम । या मरण साथ ले तम ।
उसका होता परिणाम । उसीका रूप ॥ ६९ ॥

जैसे काजल या हो मसी । उसमें न भिन्नता ऐसी ।
वैसे ही श्रद्धा जो तामसी । या तममें नहीं ॥ ७० ॥

वैसे श्रद्धा तमोगुणीमें । होती है तमके रूपमें ।
पूर्ण रूपसे सात्विकीमें । होती है सात्विक ॥ ७१ ॥

ऐसे है यह सकल । बसा है ब्रह्मांड गोल ।
श्रद्धा-मात्रसे केवल । ढाल करके ॥ ७२ ॥

किंतु गुणत्रयके कारण । किया त्रिविध-रूप धारण ।
श्रद्धाने भी यह साधारण । जान तू पांडव ॥ ७३ ॥

फूलसे जैसे वृक्ष जाना जाता । या बोलसे मानस जाना जाता ।
या सुख दुःखसे जाना-जाता । पूर्व-संचित ॥ ७४ ॥

वैसे अब पांडुकुमार । जानना श्रद्धाके प्रकार ।
कहता हूं लक्ष्य दे कर । सुन तू सब ॥ ७५ ॥

यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

श्रद्धाका विविध रूप—

जिनकी सात्विक श्रद्धा । लेकर बनता बांधा ।
सदैव उनकी मेधा । रहती स्वर्गपे ॥ ७६ ॥

सत्वस्थ पूजते देव यक्ष राक्षस राजस ।
भूत प्रेतादि जो सारे पूजते लोग तामस ॥ ४ ॥

विद्या सभी वे पढ़ते । यज्ञ-क्रियायें करते ।
ऐसे वे जाके रहते । देव-लोकमें ॥ ७७ ॥

तथा श्रद्धा जो राजस । लेकर बने वीरेश ।
भजते हैं वे राक्षस । यक्षादिक सब ॥ ७८ ॥

श्रद्धा लेकर जो तामस । आये कहूंगा तेरे पास ।
केवल वे अति कर्कश । बने पापका ढेर ॥ ७९ ॥

जीव-वध कर अमंगल । बलि देके भूत-प्रेत कुल ।
स्मशानमें जाके संध्याकाल । पूजते जो ॥ ८० ॥

तमो-गुणका लेकर सार । बनाये जाते हैं जो नर ।
जान वे तमोगुणका घर । श्रद्धाका जो ॥ ८१ ॥

ऐसे हैं ये तीन लक्षण । जगमें दीखते हैं जान ।
यह मैं कहता अर्जुन । इसीलिये तुझे ॥ ८२ ॥

सात्विक श्रद्धावाला मनुष्य शास्त्रोंका अनुकरण करता है—

यह जो है सात्विक श्रद्धा । जतन करना प्रबुद्धा ।
तथा है दोनोंके विरुद्ध । खडी करना ॥ ८३ ॥

यह सात्विक मति जिसकी । जोपासना करता उसकी ।
उसको नहीं मोक्ष-सिद्धिकी । कभी भीति ॥ ८४ ॥

नहीं सीखा वह ब्रह्म-सूत्र । तथा नहीं पढा कोई शास्त्र ।
सिद्धांत नहीं होता स्वतंत्र । उनके पास ॥ ८५ ॥

किंतु श्रुति-स्मृतिका अर्थ । बनते हैं वे स्वयं मूर्त ।
अनुष्ठानसे वे यथार्थ । देते हैं जगतको ॥ ८६ ॥

उनके आचरणके जो चरण । देख सात्विकी श्रद्धा अनुकरण ।
करके पाते फल असाधारण । निश्चित रूपसे ॥ ८७ ॥

दीप जलाता कोई कष्टसे जैसे । दूसरा दीप जला लेता उससे ।
दीप करेगा क्या कभी प्रकाशसे । उसको वंचित ॥ ८८ ॥

तथा किसीने धन अपार । व्यय कर बांधा अच्छा घर ।
अतिथि उसमें रह कर । सुख नहीं पाता क्या ? ॥ ८९ ॥

जाने दो कोई बांधता सरोवर । उसीकी तृषा हरता है क्या नीर ।
रसोई पाकानेवालेको ही घर । मिलता क्या अन्न ॥ ९० ॥

इससे अधिक क्या कहूंगा । गौतमकी लाई हुई गंगा ।
उससे वंचित है क्या जग । कह तू मुझसे ॥ ९१ ॥

तभी अपना अधिकार जान । करता जो शास्त्रोंका अनुष्ठान ।
श्रद्धासे उसका अनुकरण । कर तरता मूर्ख ॥ ९२ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

अशास्त्रीय तामसिक श्रध्दा-तप—

शास्त्रके नामसे भी जो पार्थ । न जानते आरंभकी बात ।
शास्त्रज्ञोंको रखते सतत । गांवके बाहर ॥ ९३ ॥

देख कर बडोंकी बात । करते हैं ठठोली तात ।
तथा देखके वे पंडित । बताजे चुटकियां ॥ ९४ ॥

करके बड़ा अभिमान । आचरते तपाचरण ।
दंभसे भरकर पूर्ण । पाखंड रचते ॥ ९५ ॥

दूसरोंके शरीरमें शस्त्र । चुभाके छील उसके गात्र ।
रक्तसे लेते प्रणित-पात्र । भर भर कर ॥ ९६ ॥

वह रक्त आगमें गिराते । भूतके मुखमें भी लगाते ।
तथा बालकोंका बलि देते । उन भूतोंको ॥ ९७ ॥

आग्रहके बलपर । क्षुद्र देवताको वर ।
करते हैं सत्र घोर । अपाचारका ॥ ९८ ॥

अजी ! करके स्वपर पीडन । तम क्षेत्रमें बीज बोते जान ।
आगे पाते हैं वही वे अर्जुन । फलके रूपसे ॥ ९९ ॥

शास्त्र-निषिद्ध जो घोर दंभसे करते तप ।
अहंत्तासे भरे सारे काम राग बली जन ॥ ५ ॥

पडा है समुद्रमें पार्थ । तैरने नहीं जो समर्थ ।
तथा नहीं उसके हाथ । और पांव भी ॥ १०० ॥

या वैद्यका द्वेष कर । औषध ठुकरा कर ।
होगा कैसे रोग दूर । किसीका कभी ॥ १ ॥

करके आंखोंसे विरोध । उन्हे फोडले प्रतिशोध ।
पड़ा रहता बन अंध । कोनेमें कहीं ॥ २ ॥

इसी प्रकार ये असुर । शास्त्रोंका करके धिःकार ।
करते हैं वन-संचार । अविवेकसे ॥ ३ ॥

काम जो कराता वह करते । क्रोध मरवाते उसे मारते ।
मुझे दुःखके गढेमें गाढ़ते । सभी ये लोग ॥ ४ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अपने या पराये देहको । देते हैं वे दुःख जो उसको ।
भोगना होता मुझ आत्माको । पांडुकुमार ॥ ५ ॥

वाचाके भी अंचलसे । स्पर्श न करता जिसे ।
तजनेके लिये उसे । कहना पडा ॥ ६ ॥

स्पर्शसे जैसे प्रेत हठाते । शब्दसे चांडालको तजते ।
हाथ लगाकर जैसे धोते । मलको वैसे ॥ ७ ॥

वहां शुद्धिके ही हेतुसे । लेप नहीं मानते वैसे ।
उन्हे तजनेके हेतुसे । कहा यह यहां ॥ ८ ॥

होगा तुझे जब दर्शन । असुरोंका तब अर्जुन ।
करना मेरा ही स्मरण । प्रायश्चित्त रूप ॥ ९ ॥

तभी श्रद्धा जो सात्विक । जीव-भावसे हो एक ।
जतन करना नेक । सर्वतोपरी ॥ ११० ॥

गलाते मुझ आत्माको सोखके देह-धातुको ।
ऐसे विवेक-हीनोंकी निष्ठा है जान आसुरी ॥ ६ ॥

करना सदैव ऐसा संग । सत्व-पोषणका हो अंग ।
तथा सत्व-वृद्धिका हो भाग । लेना ऐसा अन्न ॥ ११ ॥

साधकके लिये आहारका महत्व—

जो है अति-स्वाभाविक । स्वभाव वृद्धि कारक ।
आहारसे नहीं नेक । साधन शक्त ॥ १२ ॥

प्रत्यक्ष देख तू यहां वीर । भला मनुष्य सुरा पीकर ।
करता कैसे मत्त होकर । उसी क्षणमें ॥ १३ ॥

अथवा जो मनमाने अन्न-सेवन । करता तव वात-पित्थके कारण ।
या नव-ज्वरमें दूध होता अर्जुन । दुःख-दायक ॥ १४ ॥

अथवा अमृत जैसे । टालता मरण वैसे ।
तथा है विष लेनेसे । आती मृत्यू ॥ १५ ॥

वैसे ही लेनेसे जो आहार । लेता है धातु वही आकार ।
धातु जैसे वैसे ही अंतर । करता भाव पुष्ट ॥ १६ ॥

या तपनेसे जैसे बर्तन । तपता अंदर जल जान ।
वैसे धातु वश है अर्जुन । चित्त-वृत्ति ॥ १७ ॥

इसीलिये सात्विक सेवन । करनेसे होगा वृद्धि सत्व-गुण ।
तथा रज तम रसका सेवन । बढाता है वही ॥ १८ ॥

तभी कौन सात्विक आहार । रज तमका क्या क्या आकार ।
कहता हूं यह धनुर्धर । आदरसे सुन ॥ १९ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहारका विविध रूप—

उसी भांतिसे है आहार । हुए कैसे तीन प्रकार ।
तुझसे यह धनुर्धर । कहूंगा सुन ॥ १२० ॥

आहार भी सभीका है तीन भांति यथा रुचि ।
यज्ञ दान तपमें भी कहता भेद तू सुन ॥ ७ ॥

रुचि है कैसे खानेवालेकी । निष्पत्ति होती वैसे अन्नकी ।
तथा रुचि होती है गुणोंकी । दासी जान ॥ २१ ॥

जीव जो है कर्ता औ, भोक्ता । गुणोंसे वह स्वभावता ।
प्राप्त करके त्रिविधता । बरतता है ॥ २२ ॥

इसीलिये त्रिविध आहार । यज्ञ करता तीन प्रकार ।
तप दान आदि भी व्यापार । त्रिविध जान ॥ २३ ॥

पहले आहार लक्षण । कहता हूं सुन अर्जुन ।
स्पष्टतासे कर वर्णन । इस समय ॥ २४ ॥

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

सात्विक आहारका विवेचन—

सात्विक गुणकी ओर जब । दैवसे भोक्ता पढ़ता तब ।
उसका रस बढ़ता सब । मधुर रसमें ॥ २५ ॥

होते हैं जो रस-भरित । मधुर रसके पदार्थ ।
तथा मधुर स्निग्ध पार्थ । परिपक्व सहज ॥ २६ ॥

आकारमें होते सुंदर । स्पर्शमें भी होते मधुर ।
जीभको स्नेहल मधुर । उसका स्पर्श ॥ २७ ॥

रससे जो भरित । द्रव-भावसे युक्त ।
अग्नि-स्पर्शसे मुक्त । ढीली छालका ॥ २८ ॥

अल्प-गात्र परिणाम महत्तर । होता जैसे गुरु-मुखका अक्षर ।
वैसे दीखता अल्प होता अपार । तृप्ति देनेमें ॥ २९ ॥

रुचिमें होता जैसे मधुर । स्वास्थ्यमें भी होता हितकर ।
ऐसा अन्न होता प्रियकर । सात्विकोंको ॥ १३० ॥

सत्व प्रीति सुख स्वास्थ्य आयुष्य बल-वर्धक ।
रसाल मधुर स्निग्ध स्थिर आहार सात्विक ॥ ८ ॥

ऐसे गुण लक्षण पूर्ण । होता है सात्विक भोजन ।
आयुष्यको देता है त्राण । नित्य-नया जो ॥ ३१ ॥

इस भांति है वह सात्विक रस । देहमें बरसता रात दिवस ।
जिससे आयुष्य नदी स-उल्लास । बढ़ती देहमें ॥ ३२ ॥

उनके सत्वका है पोषण । होता इसी अन्नके कारण ।
दिनके उन्नतिका साधन । भानु होता जैसे ॥ ३३ ॥

तथा शरीर और मन । समर्थ करता है अन्न ।
तब रोगका क्या कारण । रहता यहां ॥ ३४ ॥

होता जब सात्विक भोग्य । तब भोगते हैं आरोग्य ।
शरीरको मिला सौभाग्य । उदय होकर ॥ ३५ ॥

लेन देन होता सुखका । तथा उत्कर्ष भलाईका ।
बढ़ता स्नेह आनंदका । इससे सदैव ॥ ३६ ॥

ऐसा है सात्विक आहार । परिणाममें है मधुर ।
करता महा उपकार । अंतर्बाह्य ॥ ३७ ॥

राजसिक आहारका विवेचन—

राजसकी जिसमें है प्रीति । जिस रसमें उसकी रति ।
करूंगा उसकी अभिव्यक्ति । प्रसंगसे अब ॥ ३८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कालकूट मृत्यु बिन । इतना कटु है मान ।
या चूनेसे भी अर्जुन । अधिक आम्ल ॥ ३९ ॥

आटेमें पानीके समान । कर नमकका मिलान ।
इसी भांति रसमें मान । डालते नमक ॥ १४० ॥

खारा सूखा कटू तीखा खट्टा अत्युष्ण दाहक ।
दुःख शोक तथा रोग देता आहार राजस ॥ ९ ॥

होता जो ऐसे नमकीन । राजसका प्रिय भोजन ।
निगलता अग्नि समान । उष्ण अतिशय ॥ ४१ ॥

भाफके छोर पर जैसे । रसके बात लगानेसे ।
बल पायेंगे दीप वैसे । भोजन उष्ण ॥ ४२ ॥

आंधीको पीछे ढकलेगा । या साबल चुभ जायेगा ।
ऐसा तीता वह खायेगा । घावके बिन चुभता जो ॥ ४३ ॥

राखसा जो होता रूक्ष । व्यंजन होता है रूक्ष ।
जिव्हा दंशसा जो रूक्ष । भाता है उसे ॥ ४४ ॥

परस्परमें दांत । टकरायेंगे साथ ।
ऐसे वस्तुसे पार्थ । तोषता वह ॥ ४५ ॥

पहले ही जो चटपटा होता । उसमें सरसों आदि पड़ता ।
जब उसको मुखमें डालता । नाकमें जाती बाफ ॥ ४६ ॥

आगको भी जो चुप करता । ऐसे बनता जो रायता ।
राजसको प्राणसे भी भाता । ऐसे व्यंजन ॥ ४७ ॥

कम मान जीभकी चुभन । जीभका वह पागल बन ।
भरता वह आगसा अन्न । अपने उदरमें ॥ ४८ ॥

भडकती इससे आग अंदर । चैन न आता भूमि या सेज पर ।
पानीका पात्र नहीं होता है दूर । मुखसे कभी ॥ ४९ ॥

नहीं खाया था वह आहार । सोया हुवा व्याधि अजगर ।
चेतानेमें डाला मद्यसार । उदरमें अपने ॥ १५० ॥

होडमें उभडता परस्पर । एक साथ रोगोंको दे आधार ।
फलता ऐसे राजस आहार । दुःख रूप केवल ॥ ५१ ॥

ऐसे राजस आहार । दिखाया है धनुर्धर ।
परिणामका विचार । सविस्तृत ॥ ५२ ॥

तामसिक आहारका विवेचन—

अब तामस जिसे खाता । उसे कैसा आहार भाता ।
उसको अब मैं कहता । न कर तू घृणा ॥ ५३ ॥

सडा गला तथा झूठन । उसमें न अहित मान ।
चरती जैसे भैंस जान । वैसे खाता ॥ ५४ ॥

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

सवेरेका पका हुवा अन्न । दुपहरका दूसरे दिन ।
ऐसे लेता है वह भोजन । प्रेमसे तामस ॥ ५५ ॥

या आधा ही पका हुवा । या संपूर्ण जला हुवा ।
रस हीन बना हुवा । ऐसा वह खाता ॥ ५६ ॥

हुई जब रस-निष्पत्ति । मिठासकी हो अभिव्यक्ति ।
वह अन्न ऐसी प्रतीति । नहीं करता तामस ॥ ५७ ॥

कभी किसी प्रसंगसे । अच्छा अन्न मिलनेसे ।
बैठता है व्याघ्र जैसे । सडने तक ॥ ५८ ॥

पक कर हुवा बहु दिन । हुवा है वह स्वादसे हीन ।
सूखा या सडा हुवा अन्न । खाता वह प्रीतिसे ॥ ५९ ॥

ऐसे सड़ा हुवा अन्न । कीचड़सा करता सान ।
सबके साथही भोजन । करता एकत्र ॥ १६० ॥

ऐसे घिनौना वह जो खाता । उसे सुख भोजन मानता ।
इससे भी संतुष्ट नहीं होता । वह पापी ॥ ६१ ॥

देख तू यह चमत्कार । शास्त्र-निषिद्ध देखकर ।
निषिद्ध ही एकेक कर । लेता कुपथ्य ॥ ६२ ॥

अपेयका वह पान । अभोज्यका भोजन ।
करनेमें है अर्जुन । होता उतावला ॥ ६३ ॥

ऐसे तामस अन्न युक्त । होता है ऐसी आशा-युक्त ।
इसका फल भी तुरंत । मिलता उसको ॥ ६४ ॥

रस हीन तथा थंडा बासी दुर्गंध-युक्त जो
निषिद्ध और उच्छिष्ट आहार तामस-प्रिय ॥ १० ॥

जभी छूता अपवित्र । अन्नको उसका वस्त्र ।
तभी वह पाप-पात्र । बनता है ॥ ६५ ॥

फिर इसके उपरांत । खानेकी उसकी रीत ।
उदर-पूर्तिकी सतत । यातना मान ॥ ६६ ॥

शिर छेदनेसे क्या मिलता । अग्नि-प्रवेशसे जो बनता ।
उसको वह नित सहता । धनुर्धर ॥ ६७ ॥

इसीलिये जो तामस अन्न । उसके फलका क्या कथन ।
उसको खाना ही दुःख जान । कहता देव ॥ ६८ ॥

यज्ञके भी तीन प्रकार हैं—

जैसे तामस आहार । वैसे हैं यज्ञके प्रकार ।
वे भी होते तीन प्रकार । कहता हूं सुन ॥ ६९ ॥

इन तीनोंमें प्रथम । सात्विक यज्ञका मर्म ।
सुन यह सुमहिम । शिरोमणि तू ॥ १७० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥ ११ ॥

सात्विक यज्ञका विवेचन—

जैसे है एक प्रियोत्तम । उसके बिन न हो काम ।
ऐसे जिसका मनोधर्म । पतिव्रताका ॥ ७१ ॥

गंगा सिंधुको छोड़कर । नहीं जाती है किसी ओर ।
तथा आत्माको देखकर । वेद होते मौन ॥ ७२ ॥

तथा स्व-हितमें जो होती । सदा निरत चित्त-वृत्ति ।
नहीं रहती अहंकृति । फल हेतु वहां ॥ ७३ ॥

पहुंच कर वृक्षका मूल । लौटना न चाहता जल ।
सूख जाता है वहीं केवल । उसी मूलमें ॥ ७४ ॥

तजके फलकी आशा मानके करणीय है ।
विधिसे मनसे जो है करते यज्ञ सात्विक ॥ ११ ॥

वैसे ही मन और तन । यजन निश्चयके स्थान ।
होकर सदैव विलीन । न चाहते कुछ ॥ ७५ ॥

फल अभिलाषा तजकर नित । स्वधर्म बिन अन्यमें हो विरक्त ।
करता है यज्ञ-कार्य अलंकृत । सर्वांग पूर्ण ॥ ७६ ॥

देखते हैं दर्पणमें जैसे । अपनी ही आंखोंकी ओरसे ।
या हथेली पर रत्न जैसे । दीपसे देखते ॥ ७७ ॥

या उदित होते ही दिवाकर । दीखते नाना पथ चहूं ओर ।
वैसे देखके वेदका निर्धार । चलता वह ॥ ७८ ॥

वह कुंड मंडप वेदी । अन्य भी साधन समृद्धि ।
पाता जैसी कहती विधि । वैसे वह सकल ॥ ७९ ॥

जैसे सब अलंकार यथा स्थान । शरीर पर करते हैं धारण ।
वैसे रखता वह स्वस्थान । योजन पूर्वक ॥ १८० ॥

करना क्या इसका वर्णन । देती यज्ञ विद्याही दर्शन ।
मूर्तिमंत हो आयी स्वस्थान । यज्ञ-हेतुसे ॥ ८१ ॥

वैसे सांगोपांग । होता है जो याग ।
अहंकृति भाग । डुबाकर ॥ ८२ ॥

कहते हैं उत्तम लक्षण । तुलसी वृक्षका क्षण क्षण ।
न रख कोई आशा अर्जुन । फल पुष्प छायाकी ॥ ८३ ॥

या होता है जो फलाशा बिन । योजना पूर्ण यज्ञ निर्माण ।
ऐसे यज्ञ करना जान । यज्ञ सात्विक ॥ ८४ ॥

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

राजसिक यज्ञका विवेचन—

कहना यह भी अर्जुन । यज्ञ वैसे ही सुलक्षण ।
जैसे राजाको निमंत्रण । श्राद्धमें जैसे ॥ ८५ ॥

फलका अनुसंधान रखके दंभपूर्वक ।
होता यजन लोगोंमें जान तू यज्ञ राजस ॥ १२ ॥

राजा यदि घरमें आता । अन्य भी जो कार्य साधता ।
तथा है यश भी मिलता । होता है श्राद्ध ॥ ८६ ॥

करके ऐसा पूर्ण विचार । स्वर्ग मिलेगा मरने पर ।
तथा कीर्ति होगी यहां पर । यज्ञ दीक्षासे ॥ ८७ ॥

ऐसा फलाशासे केवल । किया यज्ञ-कर्म सकल ।
यश-कीर्ति जिसका मूल । यज्ञ है राजस ॥ ८८ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

तामसिक यज्ञका विवेचन—

पशु-पक्षियोंके व्याहमें कभी कहीं । कामके बिना ज्योतिषीका काम नहीं ।
वैसे तामसीके यज्ञमें सर्वत्र ही । आग्रहही मूल ॥ ८९ ॥

पवन राह नहीं चाहता । मरण मुहूर्त देखता ।
निषिद्धसे नहीं है रडता । अग्नि जैसे ॥ १९० ॥

वैसे हैं तामसके आचार । न मानता विधि-व्यवहार ।
इसीलिये वह धनुर्धर । होता उच्छृंखल ॥ ९१ ॥

विधि-विधान वहां नहीं होता । मंत्र-तंत्रका स्पर्श न रहता ।
अन्न मात्र भी वह नहीं देता । भेंस भी जो खाये ॥ ९२ ॥

शत्रु-बोध है जहां ब्राह्मण । वहां आयेगी कैसे दक्षिणा ।
आंधीमें आग साथ अर्जुन । ऐसे है वहां ॥ ९३ ॥

ऐसे वहां सभी व्यर्थ होता । श्रद्धाका मुख नहीं दीखता ।
वह घर जैसे लूटा जाता । निपुत्रिकका ॥ ९४ ॥

इस भांति होता यज्ञाभास । उसका नाम यज्ञ तामस ।
कहता है यह श्रीनिवास । धनुर्धरसे यहां ॥ ९५ ॥

न है विधि न है मंत्र अन्नोत्पत्ति नहीं जहां ।
नहीं श्रद्धा नहीं त्याग वह है यज्ञ तामस ॥ १३ ॥

जैसे गंगाका ही उदक । ले जाते भिन्न मार्गसे देख ।
तब मल एक शुद्धि एक । लाता जैसे ॥ ९६ ॥

तपका स्वरूप—

तथा तीन गुणोंसे तप । हुवा है यहां तीन रूप ।
करनेसे एक है पाप । उद्धरता दूजा ॥ ९७ ॥

तपके यहां तीन प्रकार । हुए हैं जैसे पांडुकुमार ।
यह जाननेमें ही सुकर । जान तू तप क्या है ॥ ९८ ॥

कहते हैं यहां तप किसको । समझाता हूं मैं यह तुझको ।
फिर उसके तीन प्रकारको । कहूंगा मैं ॥ ९९ ॥

तप है यहां जो सम्यक । वह भी त्रिविध रूपक ।
शारीरिक औ' मानसिक । तथा वाचिक भी ॥ २०० ॥

अब त्रिविध-तपमें सुन । शारीरिक तपका लक्षण ।
जिसे जो प्रिय हो उसे मान । शंभु या श्रीहरि ॥ १ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

शारीरिक तप सात्विक—

जिसको प्रिय देवालय । यात्रादि करनेमें समय ।
आठौ प्रहर जैसे हैं पाय । चले काल-चक्रसे ॥ २ ॥

देवांगणकी रखने स्वच्छता । पूजोपचारमें नित रहता ।
तत्पर हो वह सब करता । हाथकी शोभा जान ॥ ३ ॥

लिंग या मूर्ति है देखता । अष्टांग प्रणाम करता ।
जैसे स्वाभाविक गिरता । कोई वस्तु ॥ ४ ॥

तथा विधि-विधानसे सतत । रहते जो वृद्ध गुणी निरत ।
प्राज्ञ ब्राह्मण आदिकी जो नित । करता सेवा ॥ ५ ॥

गुरु-देवादिकी पूजा स्वच्छता वीर्य-संग्रह ।
अहिंसा ऋजुता जान देहका तप है कहा ॥ १४ ॥

तथा प्रवास या पीडासे । थका मांदा जो मिला उसे ।
देता है वह शुश्रूषासे । सुख और शांति ॥ ६ ॥
सभी तीर्थका जो आधार । माता पिताका है शरीर ।
उनपर है निछावर । होता सेवामें ॥ ७ ॥
वैसे ही संसार जैसा दारुण । मिलते ही जो हरता थकान ।
ज्ञान-दानमें वह सकरुण । भजता गुरु ॥ ८ ॥
तथा अग्निमें जो स्वधर्मकी । मलिनता देह-अहंताकी ।
मिटाना पुट देके आवृत्तिकी । पुनः पुनः पार्थ ॥ ९ ॥
भूतजातमें वह वस्तुको जान । करता परोपकार औ' नमन ।
स्त्री-विषयमें करता क्षण क्षण । निग्रह मनका ॥ २१० ॥
जन्मके ही प्रसंग । स्पर्श हुवा स्त्री अंग ।
आगे है जन्म सांग । रखना शुद्ध ॥ ११ ॥
भूतजातमें एक । वस्तुको वह देख ।
नहीं जो तृण तक । करता भंग ॥ १२ ॥
इस भांतिका जब आचरण । करता रहता जिसका तन ।
तब उसमें खिला यह जान । शारीरिक तप ॥ १३ ॥
करना यह सब पार्था । देहसे ही है विशेषता ।
तभी मैं उसको कहता । तप शारीरिक ॥ १४ ॥
एवं शारीरिक जो तप । दिखाया है उसका रूप ।
कहता हूं सुन निष्पाप । तप वाङ्मय ॥ १५ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५॥

वाणीका तप सात्विक—

लोहेका आकार तूक । न घटाकर कनक ।
करता कैसे है देख । पारस वैसे ॥ १६ ॥

हितार्थ बोलना सत्य प्रेमसे न खले कभी ।
स्वाध्याय करना नित्य वाणीका तप है कहा ॥ १५ ॥

ऐसे जो नहीं दुखाता । जो सुनता सुख पाता ।
ऐसा ही वह बोलता । साधुतासे ॥ १७ ॥

पानी तो वृक्षको दिया जाता । किंतु पासका घास उगता ।
ऐसे है एकसे कहा जाता । होता सबका सुख ॥ १८ ॥

जैसे अमृतकी गंगा बहकर । करती है वह प्राणोंको अमर ।
स्नानसे पाप ताप विनाश कर । देती है शांति ॥ १९ ॥

वैसे है अविवेकको मिटाता । अपना अनादित्व दिलाता ।
पीयूषसा रुचि न बिघडाता । सुननेवालेकी ॥ २२० ॥

जब कोई है पूछता । तब है ऐसा बोलता ।
या आवर्तन करता । नाम या निगम ॥ २१ ॥

ऋग्वेदादि जो है तीन । जा बसते वाग्भुवन ।
बनता जैसे वदन । ब्रह्मशाला ॥ २२ ॥

नहीं तो कोई भी नांव । शैव अथवा वैष्णव ।
बनाता वाचा वाग्भव । तप मानके ॥ २३ ॥

मानसिक तप, सात्विक—

अब तप जो मानसिक । यह भी कहता हूं देख ।
कहे लोक-नाथ नायक । इस समय ॥ २४ ॥

मनःप्रसादःसौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

सरोवरको यदि तरंग । तजते हैं आकाशको मेघ ।
या चंदन-वनको आग । उसी भांति ॥ २५ ॥

नाना कला-वैषम्य चंद्र । तजती चिंतायें नरेंद्र ।
अथवा है क्षीर समुद्र । मंदराचल ॥ २६ ॥

प्रसन्न वृत्ति सौम्यत्व आत्म-चिंतन संयम ।
भावना रखना शुद्ध मनका तप है कहा ॥ १६ ॥

वैसे नाना विकल्प-जाल । छोड़कर जाते सकल ।
मन रहता है केवल । स्वरूपावस्थामें ॥ २७ ॥

उष्णताके विन प्रकाश । जाड्य विन अन्नमें रस ।
रिक्तता विन अवकाश । होता जैसे ॥ २८ ॥

देखकर अपना विश्रांति-स्थान । अपना स्वभाव छोड़ता है मन ।
शीतसे कांपने न देता है तन । अपने ही शीतसे ॥ २९ ॥

जैसे अचल कलंक विन । चंद्र-विंब होता परिपूर्ण ।
वैसे सुशोभित स्वच्छ मन । होता है जो ॥ ३० ॥

मिट गये हैं वैराग्यके आघात । तथा पचा मनका अस्वास्थ्य पार्थ ।
बन गया है वहां उत्तम खेत । निज-बोधका ॥ ३१ ॥

तभी विचार करने शास्त्र । चलना चाहते जो एकत्र ।
वह है कभी वाचाका सूत्र । नहीं पकड़ता ॥ ३२ ॥

स्व-लाभका लाभ होते ही जब । मनका मनत्व मिटता तब ।
नीर-स्पर्शसे पिघलता सब । लवण जैसे ॥ ३३ ॥

जब वहां भाव ही नहीं उठता । इंद्रियोंके पीछे वह कैसे दौडता ।
तब यह कैसे कह तू पहुंचता । विषय-ग्राममें ॥ ३४ ॥

इसीलिये है मनमें ऐसे । भाव-शुद्धि होती है आपसे ।
रोम-शुद्धि हथेलीपे जैसे । होती है आप ॥ ३५ ॥

अधिक क्या कहें अर्जुन । यह दशा पाता है मन ।
तब मन-तपाभिधान । प्राप्त करता ॥ ३६ ॥

किंतु अब तू यह जान । मानस तपका लक्षण ।
श्रीकृष्ण कहता संपूर्ण । कहा मैंने ॥ ३७ ॥

इसीलिये देह वाचा चित्त । करता जो विविधत्व प्राप्त ।
वह है सामान्य तप पार्थ । जाना तूने ॥ ३८ ॥
अब गुण-त्रयके संगसे । यही त्रिविध रूप लेनेसे ।
क्या होता यह प्रज्ञा बलसे । सुन तू अब ॥ ३९ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

सात्विक तप—

तभी यह तप है त्रिविध । कहा है तुझसे प्रबुद्ध ।
वह करें हो पूर्ण श्रद्ध । छोडके फलाशा ॥ २४० ॥

वह संपूर्ण सत्व-शुद्धि । करता हो आस्तिक बुद्धि ।
तब उसको है सुबुद्धि । कहते तप सात्विक ॥ ४१ ॥

राजसिक तप—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

या करने तपका स्थापन । जगमें द्वैत कर उत्पन्न ।
प्राप्त करने सर्वोच्च स्थान । लोगोंमें तब ॥ ४२ ॥

तथा त्रिभुवनका सन्मान । नहीं पाये कोई अन्य जन ।
पंगतमें सर्वोच्च आसन । पाने भोजनमें ॥ ४३ ॥

अथवा विश्वके स्तोत्र । बनना है आप मात्र ।
विश्व ही अपनी यात्रा । करने आये ॥ ४४ ॥

तथा लोगोंसे ले पूजा विविध । आश्रय बने आप यह साध ।
इससे भोग भोगें सर्व-विध । इस आशासे ॥ ४५ ॥

करके अंगांगका शृंगार । सजाता है तपसे शरीर ।
तडपती बेचने शरीर । वेश्या जैसे ॥ ४६ ॥

रखके धन-माननें आस । तपते हैं करके आयास ।
तब ऐसा ही तप राजस । कहलाता है ॥ ४७ ॥

त्रिविध तप जो सारा श्रद्धा उत्कट जोडके ।
तजके फलकी आशा होता है वह सात्विक ॥ १७ ॥
चाहके मान सत्कार करते दंभ-पूर्वक ।
वह चंचल तू जान तप राजस अस्थिर ॥ १८ ॥

पहुरणी जब थन चूसता । गायके पास दूध न रहता ।
या जानवर खेतको चरता । न मिलती उपज ॥ ४८ ॥

तपका ऐसे प्रदर्शन । करनेसे वह अर्जुन ।
होता है फलसे विहीन । कष्टसे जो किया था ॥ ४९ ॥

देख कर ऐसे विफल । छोड़ता है तप सकल ।
तभी होता वह चंचल । तप राजस ॥ २५० ॥

जैसे अकालके बादल । भर देते नभ-मंडल ।
नहीं टिकते क्षण-काल । गरज कर भी ॥ ५१ ॥

राजस तप ऐसा होता । फलते निष्फल बनता ।
आचरणमें न टिकता । सिद्धि तक ॥ ५२ ॥

देख तू अब वही तप । किया जाता तामस रूप ।
इह-परमें परंतप । होता व्यर्थ ॥ ५३ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

तामसिक तप—

केवल मूर्खताका संचार । जीवमें होकर धनुर्धर ।
माना जाता अपना शरीर । शत्रुरूप ॥ ५४ ॥

जहां पंचाग्निकी ज्वाल । जलाती देह सकल ।
मानो तन मन बल । बनाके समिधा ॥ ५५ ॥

मस्तकपे जलाते गुगूल । या पेटमें चुभाते हैं कील ।
या जलाते हैं अंग सकल । आगसे अपना ॥ ५६ ॥

तथा रोककर श्वासोच्छ्वास । करते व्यर्थ ही उपवास ।
या करते धूममें वास । हो अधोमुख ॥ ५७ ॥

हठसे जो किया जाता करके आत्म-पीडन ।
तथा जो पर-घातार्थ कहाता तप तामस ॥ १९ ॥

तथा हिमोदकमें आकंठ । नदीमें या पाषाणपे बैठ ।
जीते मांसके टुकडे काट । डालते हैं ॥ ५८ ॥
ऐसे भांति भांतिसे काया । जला घुलाके धनंजया ।
नाशार्थ तप कहलाया । दूसरोंके ॥ ५९ ॥
अंग-भारसे छूटा पाषाण । गिरके टूटता आप जान ।
आता है जो उसका हनन । करता राहमें ॥ २६० ॥
अपनेको देकर दुःख । पाते रहते हैं जो सुख ।
करने उन्हे अधोमुख । तप जो करते ॥ ६१ ॥
ऐसे दुःखका कर स्वीकार । करते हैं तप धनुर्धर ।
स्व-पर घातक हैं जो घोर । तप तामस ॥ ६२ ॥
ऐसे सत्वादिके कारण । होते तपके प्रकार तीन ।
उसको व्यक्त किया है जान । स्पष्ट रूपसे ॥ ६३ ॥
करनेमें अब कथन । सहज प्रसंग है जान ।
कहता दानका लक्षण । तीन प्रकारके ॥ ६४ ॥
इन्ही गुणके कारण । दान भी त्रिविध जान ।
वही तू पहले सुन । सात्विक कैसे ॥ ६५ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

सात्विक दान—

करते स्वधर्माचरण । पाया है आप जो धन ।
उसको देना स-संमान । किसी समय ॥ ६६ ॥
मिलता सु-बीज प्रसंग । नहीं मिलता खेत चांग ।
ऐसा यह दानका योग । दीखता मुझे ॥ ६७ ॥
अनर्घ्य रत्न चढ़ता हाथ । तब स्वर्ण न मिलता पार्थ ।
दोनो मिलते हैं एक साथ । न आता ऐसा योग ॥ ६८ ॥

धर्मके भावसे देना उपकार न चाहके ।
देश काल तथा पात्र देखके दान सात्विक ॥ २० ॥

किंतु पर्व सुहृद संपत्ति । इन तीनोंकी होती है युति ।
जब करता भाग्य उन्नति । अपना तब ॥ ६९ ॥

इस भांति होता हो तो दान । बने जो सत्यका संघटन ।
वहां है देश-काल भाजन । सब उगते हैं ॥ २७० ॥

करना पहला ऐसा प्रयास । होना कुरुक्षेत्र या काशीवास ।
नहीं हो तो ऐसा कोई देश । धनुर्धर ॥ ७१ ॥

तब हो रवि-चंद्र राहु मेल । होने पाये ऐसा ही पुण्य-काल ।
अथवा हो ऐसा कोई निर्मल । काल दूसर ॥ ७२ ॥

ऐसे ही स्थल-काल हो एकत्र । मिले ऐसे ही संपत्ति पात्र ।
जैसे मूर्त-रूप ही पवित्र । आया हो वहां ॥ ७३ ॥

सदाचारका हो सदन । चलता हो वहां वेद-दान ।
ऐसे द्विज-रत्न पावन । आया हो वहां ॥ ७४ ॥

उनके पद-तलमें पार्था । उत्सर्ग करना वित्त सत्ता ।
जैसे पतिके सम्मुख कांता । आती जैसे ॥ ७५ ॥

या पराई धरोहर । सांस लेते लौटाकर ।
या राजाको जो किंकर । देता है पान ॥ ७६ ॥

ऐसे हो निष्काम अंतःकरण । करना भूमि धनादि अर्पण ।
तथा उठने न देना अर्जुन । फलेच्छा कभी ॥ ७७ ॥

और जिसको देना है दान । पात्र वह ऐसे हो अर्जुन ।
न करे कभी उसका मन । लौटानेका नाम ॥ ७८ ॥

यदि कोई आकाशको पुकारता । आकाश उसका उत्तर न देता ।
या उलटे देखनेसे न दीखता । दर्पणमें जैसे ॥ ७९ ॥

गेंद जैसे पानी पर । मारनेसे भी दे जोर ।
न आता उछलकर । अपने हाथमें ॥ २८० ॥

अथवा सांडको दिया चारा । तथा कृतघ्नको माना प्यारा ।
न मानते वे उपकार । उसी भांति ॥ ८१ ॥

करता है जो दानका अंगीकार । न कर सके कभी प्रत्युपकार ।
वैसे रहता दाताको भूलकर । चितमें भी वह ॥ ८२ ॥
ऐसी परिस्थितिमें जो दान । सहज दिया गया अर्जुन ।
जान तू वही सात्विक दान । सबमें श्रेष्ठ ॥ ८३ ॥
वही है स्थल और काल । घटता पात्रका सुमेल ।
दान-भाग भी है निर्मल । होना न्यायगत ॥ ८४ ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

राजसिक दान—

दूधकी आशा मनमें रखकर । लाते हैं नित गायको चराकर ।
तथा उपजकी आशा रखकर । करते खेत जैसे ॥ ८५ ॥
या दृष्टि रख उपहार पर । बुलाते हैं आप्तोंको घर पर ।
या वायन भेजते घर पर । गोद भरनेवालोंके ॥ ८६ ॥
काटकर सूदका धन । देते हैं जैसे आप ऋण ।
या लेकर शुल्कका धन । औषध वैद्य ॥ ८७ ॥
जैसे जिसे दिया जो दान । काम आये वह स-साधन ।
ऐसी भावना रख अर्जुन । दिया जाता जो ॥ ८८ ॥
अथवा कोई राह चलता । जो है किसी काम नहीं आता ।
मिलता है तब पांडुसुत । द्विजोत्तम ऐसा ॥ ८९ ॥
एक भी कवडीके लिये । गोत्रजोंने जो पाप किये ।
सर्व प्रायश्चित्तके लिये । छोडता उदक ॥ २९० ॥
वैसे ही पारलौकिक । वांछना रख अनेक ।
दिया जाता वह एक । ग्रासमें भी न आता ॥ ९१ ॥

उपकार अपेक्षासे अथवा फल चाहके ।
क्लेष-पूर्वक जो देते जान तू दान राजस ॥ २१ ॥

ले जाता ब्राह्मण जब दान । थकता बडी हानि मान ।
लूट लिया सारा ही धन । चोरोंने जैसे ॥ ९२ ॥

सुन इस मनोवृत्तिसे । दिया जाता जो दान उसे ।
कहाता त्रिलोकमें जैसे । राजस दान ॥ ९३ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

तामसिक दान—

म्लेंच्छोंका जो वसति-स्थान । धर्म-हीन स्थान या वन ।
या शिविर हो या कुस्थान । चौराहेका ॥ ९४ ॥

ऐसे स्थान पर धनंजय । सांझ हो या रातके समय ।
उदारतासे करता व्यय । चोरीका धन ॥ ९५ ॥

पात्र वहां ग्राम या नागारी । सामान्य स्त्रियां हो या जुआरी ।
मूर्तिमंत जो भूलसे पूरी । भूल-मात्र ॥ ९६ ॥

रूप नृत्यका जो प्रदर्शन । होता वहां आंखोंको दर्शन ।
तथा भाटोंका गीत-श्रवण । होता कर्ण जप ॥ ९७ ॥

अल्प-स्वल्प फिर जो मादक । पुष्प चंदनादि सुगंधिक ।
उसमें उतरता भ्रामक । वेताल तामस ॥ ९८ ॥

वहां लूटे हुए अनेक । भूषण स्वर्ण-रत्नादिक ।
डालता अन्न छत्र एक । वधिकोंको जैसे ॥ ९९ ॥

ऐसे जो जो है दिया जाता । उसे मैं तामस कहता ।
उसमें भी दैवसे होता । और सुयोग ॥ ३०० ॥

दैवयोगसे गुणाक्षर घडता । अथवा तालियोंमें काग फंसता ।
वैसे ही देशमें आ जुडता । तामसोंका पर्व ॥ १ ॥

धरके भावना तुच्छ देश काल न देखके ।
बिना आदर जो देते जान तू दान तामस ॥ २२ ॥

जब देख तमोगुणी संपन्न । भाग्यसे आया कोई लेने दान ।
तब वह फूलता साभिमान । नशामें उन्मत्तसा ॥ २ ॥
नहीं होती मन में श्रद्धा पार्थ । न झुकाता वह अपना माथ ।
आप नहीं करता या कराता । अर्घ्यादिक ॥ ३ ॥
नहीं देता अभ्यागतको आसन । वहां गंधाक्षतकी बात ही कौन ।
तामसमें कहां ये सब लक्षण । कह तू होंगे संभव ॥ ४ ॥
कुछ देकर जैसे लौटाते ऋणदाता । वैसे उसके हाथमें वह कुछ देता ।
तू तुकार कर बोलना उसका होता । स्वभाव सदैव ॥ ५ ॥
जिसको जो कुछ जब वह देता । उसीमें करता उसकी योग्यता ।
या उसका अपमान भी करता । कुवचनोंसे ॥ ६ ॥
होता है जो इस प्रकार । धन देता पांडुकुमार ।
उसे कहता चराचर । तामस दान ॥ ७ ॥

सत्वको स्पष्ट करनेके लिये रज तम दिखाया है—

ऐसे हैं जिनके लक्षण । इन लक्षणोंके जो तीन ।
कहे हैं ये दान दे ध्यान । रज तम पर ॥ ८ ॥
यहां मैं यह जानता । मनमें है तू सोचता ।
तेरी यह कल्पकता । है विलक्षण ॥ ९ ॥
जो है भव-बंध मोचक । कहा गया कर्म सात्विक ।
तब क्यों कहता सदोष । कर्मका लक्षण ॥ ३१० ॥
जैसे पिशाचको नहीं हठाते । गढ़ा हुवा धन न पा सकते ।
या यदि धुंएको नहीं सहते । न लगता दीप ॥ ११ ॥
शुद्ध सत्व पर भी वैसे सतत । पट पडता रज-तमका पार्थ ।
उसको भेदनेकी यह जो बात । अस्वाभाविक क्या ? ॥ १२ ॥
श्रद्धा दानादि जो सभी पार्थ । हमने तुझको क्रियाजात ।
कहे हैं अब उसमें व्याप्त । तीनों ही गुण ॥ १३ ॥
वहां कहनेके ये जो तीन । उद्देश्य न रखता था मन ।
बतानेमें सत्वके लक्षण । कहे ये दो भी ॥ १४ ॥

दोनोंमें जब तीसरा होता । दोनोंको तजनेसे मिलता ।
अहोरात्र त्यागसे मिलता । संध्यारूप जैसे ॥ १५ ॥

वैसे रज-तमका विनाश । डालता उत्तम प्रकाश ।
तब दीखता सत्व विशेष । स्पष्टरूपसे ॥ १६ ॥

एवं दिखानेमें सत्व तुझ । दिखाया है तम तथा रज ।
वह छोड़ सत्वसे तू काज । साध ले अपना ॥ १७ ॥

सत्वसे जो ऐसे निर्मल । कर तू यज्ञादि सकल ।
जिससे होगा करतल । सकल सिद्धि ॥ १८ ॥

सूर्य जब प्रकाशित करता । जगमें तब क्या न दीखता ।
वैसे ही सत्वसे नहीं मिलता । फल वह कौन ॥ १९ ॥

अजी ! जो मन भाया फल । प्राप्त करनेमें सकल ।
तथा मोक्षमें भी निश्चल । होता समर्थ ॥ ३२० ॥

इससे भिन्न है बात एक । उसका साथ मिलता नेक ।
तब पैठता वह सात्विक । मोक्ष-ग्राममें ॥ २१ ॥

होता है जब स्वर्ण शुद्ध । तथा राजाक्षरसे सिद्ध ।
चलन कहाता प्रसिद्ध । उसी भांति ॥ २२ ॥

स्वच्छ शीतल सुगंध । जल होता सुख-प्रद ।
किंतु पावित्र्य संबंध । आता तीर्थसे ॥ २३ ॥

नाला हो कितना ही अपार । जब गंगा करती स्वीकार ।
तब होता उसका सागर-। प्रवेश संभव ॥ २४ ॥

वैसा सात्विक कर्म अर्जुन । करने आता मोक्षालिंगन ।
न होता तब अधिक जान । भिन्न जो वह बात ॥ २५ ॥

सुन यह वचन धनुर्धर । कहता हृदय उमड़ कर ।
प्रभो ! कह वह कृपा कर । अति शीघ्र ॥ २६ ॥

तब वह कृपा-गुण-चक्रवर्ती । कहता सुन उसकी अभिव्यक्ती ।
दिखाता जो सात्विक कर्म मुक्ती-। दीप सदैव ॥ २७ ॥

यज्ञादिके आदि लेनेका मंगल-नाम—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ऐसे अनादि परब्रह्म । जगदादि विश्रामधाम ।
उसका है एकही नाम । कहा तीन प्रकारसे ॥ २८ ॥
वास्तविक वह नाम जाति रहित । किंतु पडे जो अविद्यातममें ग्रस्त ।
उनके लिये श्रुतिने किया चिन्हित । जाननेमें उसे ॥ २९ ॥
नव जात शिशुको जैसे । कोई नाम न होता उसे ।
बुलाते तो रखे नामसे । जी कह उठता ॥ ३३० ॥
संसार-दुःखसे जो हैं पीडित । जीव आते उसके पास नित ।
उनको ओ! देता है संकेत । जो यह नाम ॥ ३१ ॥
मिटे पर-ब्रह्मका चिर-मौन । तथा अद्वयत्वसे हो मिलन ।
ऐसा मंत्र दिया हो सकरुण । श्रुति-माताने ॥ ३२ ॥
वेदका दिया हुवा जो नाम । सुनते ही वह पर-ब्रह्म ।
सम्मुख आता वह परम । होता जो पीछे ॥ ३३ ॥
किंतु निगमाचल शिखर पर । बसे जो उपनिषदार्थ नगर ।
करते वहां ब्रह्म सह विहार । वही जानते यह ॥ ३४ ॥
रहने दे वह प्रजापति । रखता सृष्टि कर्तृत्व-शक्ति ।
उसका आधार है आवृत्ति । इस नामकी ॥ ३५ ॥
हुवा जब सृष्टिका उपक्रम । सुन अर्जुन उसके प्रथम ।
पगलाया हुवा-सा यह ब्रह्म । था अकेला ही ॥ ३६ ॥
मुझ ईश्वरको जो न जानता । तथा सृष्टि भी न कर सकता ।
ऐसेको वह महान बनाता । नाम एक ॥ ३७ ॥

ॐ तत्सत् तीन नामोंसे किया निर्देश ब्रह्मका ।
जिससे ये हुए वेद यज्ञ याज्ञिक आदि में ॥ २३ ॥